तुलसी प्रज्ञा, लाडनूं (राज.)
Oct-Decr. 1993

पढ़िए खास कर के रेखांकित अंश और पृष्ठ 245 to 250 --- KRC. - 1/5/94

जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन : एक विमर्श

□ सागरमल जैन

प्राकृत एक भाषा न होकर, भाषा समूह है। प्राकृत के इन विविध भाषित रूपों का उल्लेख हेमचन्द्र प्रभृति प्राकृत-व्याकरणविदों ने किया है। प्राकृत के जो विभिन्न भाषिक रूप उपलब्ध हैं, उन्हें निम्न भाषिक वर्गों में विभक्त किया जाता है—मागधी, अर्द्ध-मागधी, शौरसेनी, जैन शौरसेनी, महाराष्ट्री, जैन महाराष्ट्री, पैशाची, ब्राचड, चूलिका, ढक्की आदि। इन विभिन्न प्राकृतों से ही आगे चलकर अपभ्रंश के विविध रूपों का विकास हुआ और जिनसे कालान्तर मे असमिया, बगला, उड़िया, भोजपुरी या पूर्वी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि भारतीय भाषायें अस्तित्व में आयी। अतः प्राकृतें सभी भारतीय भाषाओं की पूर्वज हैं और आधुनिक हिन्दी का विकास भी इन्हीं के आधार पर हुआ है।

मेरी दृष्टि में तो संस्कृत भाषा का विकास भी, इन्हीं प्राकृतों (विभिन्न बोलियों) को संस्कारित करके एक सामान्य सम्पर्क भाषा के विकास के हेतु ही हुआ है, जिसका प्राचीन रूप छान्दस् (वैदिक संस्कृत) था और वही छान्दस् भाषा ही साहित्यिक संस्कृत की जननी है। जिस प्रकार विभिन्न उत्तर भारतीय बोलियों (अपभ्रंश के विविध रूपों) से हमारी हिन्दी भाषा का विकास हुआ है, उसी प्रकार प्राचीन काल में विभिन्न प्राकृत बोलियों से संस्कृत भाषा का निर्माण हुआ। संस्कृत शब्द ही इस तथ्य का प्रमाण है कि वह एक संस्कारित भाषा है, जबकि प्राकृत शब्द ही प्राकृत को मूल भाषा के रूप में अधिष्ठित करता है। प्राकृत की 'प्रकृतिर्यस्य संस्कृतम्' कहकर जो व्याख्या की जाती है, वह मात्र संस्कृतविदों को प्राकृत-व्याकरण का स्वरूप समझाने की दृष्टि से की जाती है।

प्राकृत के संदर्भ में हमें एक दो बातें और समझ लेनी चाहिए। प्रथम सभी प्राकृत व्याकरण संस्कृत में लिखे गये हैं, क्योंकि उनका प्रयोजन संस्कृत के विद्वानों को प्राकृत भाषा के स्वरूप का ज्ञान कराना रहा है। वास्तविकता तो यह है कि प्राकृत भाषा की आधारगत बहुविधता के कारण

उसका कोई एक सम्पूर्ण व्याकरण बना पाना ही कठिन है। उसका विकास विविध बोलियों से हुआ है और बोलियों में विविधता होती है। साथ ही उनमें देश-काल गत प्रभावों और सुख-सुविधाओं के कारण परिवर्तन होते रहते हैं। प्राकृत निर्झर की भांति बहती भाषा है। उसे व्याकरण में आबद्ध कर पाना संभव नहीं है। इसीलिए प्राकृत को 'बहुलं' अर्थात् विविध वैकल्पिक रूपों वाली भाषा कहा जाता है।

वस्तुतः प्राकृतें अपने मूल रूप में भाषा न होकर बोलियां ही रहीं हैं। यहां तक कि साहित्यिक नाटकों में भी इनका प्रयोग बोलियों के रूप में ही देखा जाता है और यही कारण है कि मृच्छकटिक जैसे नाटक में अनेक प्राकृतों का प्रयोग हुआ है, उसके विभिन्न पात्र भिन्न-भिन्न प्राकृतें बोलते हैं। इन विभिन्न प्राकृतों में से अधिकांश का अस्तित्व मात्र बोली के रूप में ही रहा, जिनके निदर्शन नाटकों और अभिलेखों में पाये जाते हैं। मात्र अर्द्धमागधी, जैन-शौरसेनी और जैन महाराष्ट्री ही ऐसी भाषायें हैं, जिनमें जैनधर्म के विपुल साहित्य का सृजन हुआ है। पैशाची प्राकृत के प्रभाव से युक्त मात्र एक ग्रन्थ प्राकृत धम्मपद मिला है। इन्हीं जन बोलियों को जब साहित्यिक भाषा का रूप देने का प्रयत्न जैन आचार्यों ने किया, तो उसमें भी आधारगत विभिन्नता के कारण शब्द रूपों की विभिन्नता रह गई। सत्य यह है कि विभिन्न बोलियों पर आधारित होने के कारण साहित्यिक प्राकृतों में भी शब्द रूपों की यह विविधता रह जाना स्वाभाविक है।

विभिन्न बोलियों की लक्षणगत विशेषताओं के कारण ही प्राकृत भाषाओं के विविध रूप बने हैं। बोलियों के आधार पर विकसित इन प्राकृतों जो मागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि रूप बने हैं, उनमें भी प्रत्येक में वैकल्पिक शब्द-रूप पाये जाते हैं। अतः उन सभी में व्याकरण की दृष्टि से पूर्ण एकरूपता का अभाव है। फिर भी भाषाविदों ने व्याकरण के नियमों के आधार पर उनकी लक्षणगत विशेषताएं मान ली हैं, जैसे—मागधी में 'स' के स्थान पर 'श', 'र' के स्थान पर 'ल' का उच्चारण होता है। अतः मागधी में पुरुष का पुलिस और राजा का लाजा रूप पाया जाता है, जबकि महाराष्ट्री में पुरिस और राया रूप बनता है। जहां अर्धमागधी में 'त' श्रुति की प्रधानता है और व्यंजनों के लोप की प्रवृत्ति अल्प है, वहीं शौरसेनी में 'द' श्रुति की और महाराष्ट्री में 'य' श्रुति की प्रधानता पायी जाती है तथा लोप की प्रवृत्ति अधिक है। दूसरे शब्दों में अर्ध-मागधी में 'त' यथावत् रहता है, शौरसेनी में 'त' के स्थान पर 'द' और महाराष्ट्री में लुप्त-व्यंजन के बाद शेष रहे 'अ' का 'य' होता है। प्राकृतों में इन लक्षणगत विशेषताओं के बावजूद धातु रूपों एवं शब्द रूपों में अनेक वैकल्पिक रूप तो पाये ही जाते हैं। यहां यह भी स्मरण रहे कि नाटकों में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृतों की

अपेक्षा जैन ग्रंथों में प्रयुक्त इन प्राकृत भाषाओं का रूप कुछ भिन्न है और किसी सीमा तक उनमें लक्षणगत बहुरूपता भी है। इसीलिए जैन आगमों में प्रयुक्त मागधी को अर्ध-मागधी कहा जाता है क्योंकि उसमें मागधी के अतिरिक्त अन्य बोलियों का प्रभाव के कारण मागधी से भिन्न लक्षण भी पाये जाते हैं। जहां अभिलेखीय प्राकृतों का प्रश्न है उनमें शब्द रूपों की इतनी अधिक विविधता या भिन्नता है कि उन्हें व्याकरण की दृष्टि से व्याख्यायित कर पाना सम्भव नहीं है। क्योंकि उनकी प्राकृत साहित्यिक प्राकृत न होकर स्थानीय बोलियों पर आधारित है।

यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह जैन शौरसेनी कही जाती है। उसे जैन शौरसेनी इसलिये कहते हैं कि उसमें शौरसेनी के अतिरिक्त अर्धमागधी के भी कुछ लक्षण पाये जाते हैं। उस पर अर्धमागधी का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है, क्योंकि इसमें रचित ग्रंथों के आधार अर्धमागधी आगम ही थे। इसी प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों ने प्राकृत के जिस भाषायी रूप को अपनाया वह जैन महाराष्ट्री कही जाती है। इसमें महाराष्ट्री के लक्षणों के अतिरिक्त कहीं-कहीं अर्धमागधी और शौरसेनी के लक्षण भी पाये जाते हैं, क्योंकि इसमें रचित ग्रंथों का आधार भी मुख्यतः अर्धमागधी और जैन शौरसेनी साहित्य रहा है।

अतः जैन परम्परा में उपलब्ध किसी भी ग्रंथ की प्राकृत का स्वरूप निश्चित करना एक कठिन कार्य है, क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता, जो विशुद्ध रूप से किसी एक प्राकृत का प्रतिनिधित्व करता हो। आज उपलब्ध विभिन्न श्वेताम्बर अर्ध-मागधी आगमों में चाहे प्रतिशतों में कुछ भिन्नता हो, किंतु व्यापक रूप से महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है। आचारांग और ऋषि-भाषित जैसे प्राचीन स्तर के आगमों में अर्ध-मागधी के लक्षण प्रमुख होते हुए भी कहीं-कहीं आंशिक रूप में शौरसेनी का एवं विशेष रूप से महाराष्ट्री का प्रभाव आ ही गया है। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के शौरसेनी ग्रन्थों में एक ओर अर्धमागधी का तो दूसरी ओर महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है। कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनमें लगभग ६० प्रतिशत शौरसेनी एवं ४० प्रशितत महाराष्ट्री पायी जाती है— जैसे वसुनन्दी के श्रावकाचार का प्रथम संस्करण, ज्ञातव्य है कि परवर्ती संस्करणों में शौरसेनीकरण अधिक किया गया है। कुंद-कुंद के ग्रंथों में भी यत्र-तत्र महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है। इन सब विभिन्न भाषिक रूपों के पारस्परिक प्रभाव या मिश्रण के अतिरिक्त मुझे अपने अध्ययन के दौरान एक महत्त्वपूर्ण बात यह मिली कि जहां शौरसेनी ग्रंथों में जब अर्धमागधी आगमों के उद्धरण दिये गए, तो वहां उन्हें अपने अर्ध-मागधी रूप में न देकर उनका शौरसेनी रूपांतरण करके दिया गया

है। इसी प्रकार महाराष्ट्री के ग्रंथों में अथवा श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा लिखित ग्रंथों में जब भी शौरसेनी के ग्रन्थ का उद्धरण दिया गया, तो सामान्यतया उसे मूल शौरसेनी में न रखकर उसका महाराष्ट्री रूपांतरण कर दिया गया। उदाहरण के रूप में भगवती आराधना की टीका में जो उत्तराध्ययन, आचारांग आदि के उद्धरण पाये जाते हैं, वे उनके अर्धमागधी रूप में न होकर शौरसेनी रूप में ही मिलते हैं। इसी प्रकार हरिभद्र ने शौरसेनी प्राकृत के 'यापनीय-तंत्र' नामक ग्रंथ से 'ललितविस्तरा' में जो उद्धरण दिया वह महाराष्ट्री प्राकृत में ही पाया जाता है।

इस प्रकार चाहे अर्धमागधी आगम हो या शौरसेनी आगम, उनके उपलब्ध संस्करणों की भाषा न तो पूर्णतः अर्धमागधी है और न ही शौरसेनी। अर्धमागधी और शौरसेनी दोनों ही प्रकार के आगमों पर महाराष्ट्री का व्यापक प्रभाव देखा जाता है जो कि इन दोनों की अपेक्षा परवर्ती है। इसी प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत के कुछ ग्रन्थों पर तो परवर्ती अपभ्रंश का भी प्रभाव देखा जाता है। इन आगमों अथवा आगम तुल्य ग्रन्थों के भाषाई स्वरूप की विविधता के कारण उनके कालक्रम तथा पारस्परिक आदान-प्रदान को समझने में विद्वानों को पर्याप्त उलझनों का अनुभव होता है, मात्र इतना ही नहीं कभी-कभी इन प्रभावों के कारण इन ग्रंथों को परवर्ती भी सिद्ध कर दिया जाता है।

आज आगमिक साहित्य के भाषिक स्वरूप की विविधता को दूर करने तथा उन्हें अपने मूल स्वरूप में स्थिर करने के कुछ प्रयत्न भी प्रारम्भ हुए हैं। सर्वप्रथम डॉ० के० ऋषभचन्द्र ने प्राचीन अर्धमागधी आगम जैसे—आचारांग, सूत्रकृतांग में आये महाराष्ट्री के प्रभाव को दूर करने एवं उन्हें अपने मूल स्वरूप में लाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया है। क्योंकि एक ही अध्याय या उद्देशक में लोय और लोग या आया और आता दोनों ही रूप देखे जाते हैं। इसी प्रकार कहीं क्रिया रूपों में भी 'त' श्रुति उपलब्ध होती है और कहीं उसके लोप की प्रवृत्ति देखी जाती है। प्राचीन आगमों में हुए इन भाषिक परिवर्तनों से उनके अर्थ में भी कितनी विकृति आयी इसका श्री डॉ० चन्द्रा ने अपने लेखों के माध्यम से संकेत किया है तथा यह बताया है कि अर्धमागधी 'खेतन्न' शब्द किस प्रकार 'खेयन्न' बन गया और उसका जो मूल 'क्षेत्रज्ञ' अर्थ था वह 'खेदज्ञ' हो गया। इन सब कारणों से उन्होंने पाठ संशोधन हेतु एक योजना प्रस्तुत की और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन के प्रथम उद्देशक की भाषा का सम्पादन कर उसे प्रकाशित भी किया है। इसी क्रम में मैंने भी आगम संस्थान उदयपुर के डॉ० सुभाष कोठारी एवं डॉ० सुरेश सिसोदिया द्वारा आचारांग के विभिन्न प्रकाशित संस्करणों से पाठांतरों का संकलन करवाया है। इसके विरोध में पहला स्वर श्री

जौहरीमलजी पारख ने उठाया है। श्वेताम्बर विद्वानों में आयी इस चेतना का प्रभाव दिगम्बर विद्वानों पर भी पड़ा और आचार्यश्री विद्यानंदजी के निर्देशन में आचार्य कुन्द-कुन्द के ग्रंथों को पूर्णतः शौरसेनी में रूपान्तरित करने का एक प्रयत्न प्रारम्भ हुआ है, इस दिशा में प्रथम कार्य बलभद्र जैन द्वारा समयसार, नियमसार का कुन्दकुन्द भारती से प्रकाशन है। यद्यपि दिगम्बर परंपरा में ही पं० खुशालचन्द गोरावाला, पद्मचन्द्र शास्त्री आदि दिगम्बर विद्वानों ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया।

आज श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं में आगम या आगम रूप में मान्य ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप संशोधन की जो चेतना जागृत हुई है, उसका कितना औचित्य है, इसकी चर्चा तो मैं बाद में करूंगा। सर्वप्रथम तो इसे समझना आवश्यक है कि इन प्राकृत आगम ग्रंथों के भाषिक स्वरूप में किन कारणों से और किस प्रकार के परिवर्तन आये हैं। क्योंकि इस तथ्य को पूर्णतः समझे बिना केवल एक दूसरे के आधार पर अथवा अपनी परम्परा को प्राचीन सिद्ध करने हेतु किसी ग्रंथ के स्वरूप को परिवर्तन कर देना, संभवतः इन ग्रन्थों के ऐतिहासिक क्रम एवं काल-निर्णय एवं इनके पारस्परिक प्रभाव को समझने में बाधा उत्पन्न करेगा और इससे कई प्रकार के अन्य अनर्थ भी सम्भव हो सकते हैं।

किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि जैन आचार्यों एवं जैन विद्वानों ने अपने भाषिक व्यामोह के कारण अथवा प्रचलित भाषा के शब्द रूपों के आधार पर प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन किया है। जैन आगमों की वाचना को लेकर जो मान्यताएं प्रचलित हैं उनके अनुसार सर्वप्रथम ई० पू० तीसरी शती में वीर निर्वाण के लगभग एक सौ पचास वर्ष पश्चात् पाटलीपुत्र में प्रथम वाचना हुई। इसमें उस काल तक निर्मित आगम ग्रंथों, विशेषतः अंग आगमों का सम्पादन किया गया। यह स्पष्ट है कि पटना की यह वाचना मगध में हुई थी और इसलिए इसमें आगमों की भाषा का जो स्वरूप निर्धारित हुआ होगा, वह निश्चित ही मागधी/अर्धमागधी रहा होगा। इसके पश्चात लगभग ई० पू० प्रथम शती में खारवेल के शासनकाल में उड़ीसा में द्वितीय वाचना हुई यहां पर इसका स्वरूप अर्धमागधी रहा होगा, किन्तु इसके लगभग चार सौ वर्ष पश्चात् स्कंदिल और आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में क्रमशः मथुरा व वलभी में वाचनाएं हुईं। संभव है कि मथुरा में हुई इस वाचना में अर्धमागधी आगमों पर व्यापक रूप से शौरसेनी का प्रभाव आया होगा। वलभी के वाचना वाले आगमों में नागार्जुनीय पाठों के तो उल्लेख मिलते हैं, किंतु स्कंदिल की वाचना के पाठ भेदों का कोई निर्देश नहीं है। स्कंदिल की वाचना सम्बन्धी पाठ भेदों का यह अनुल्लेख विचारणीय है। नंदीसूत्र में स्कंदिल के सम्बन्ध में यह कहा

गया है कि उनके अनुयोग (आगम-पाठ) ही दक्षिण भारत क्षेत्र में आज भी प्रचलित हैं। संभवतः यह संकेत यापनीय आगमों के सम्बन्ध में होगा। यापनीय परम्परा जिन आगमों को मान्य कर रही थी, उसमें व्यापक रूप मे भाषिक परिवर्तन कर दिया गया था और उन्हें शौरसेनी रूप दे दिया गया था। यद्यपि आज प्रमाण के अभाव में निश्चित रूप से यह बता पाना कठिन है कि यापनीय आगमों की भाषा का स्वरूप क्या था, क्योंकि यापनीयों द्वारा मान्य और व्याख्यायित वे आगम उपलब्ध नहीं है। यद्यपि अपराजित के द्वारा दशवैकालिक पर टीका लिखे जाने का निर्देश प्राप्त होता है, किन्तु वह टीका भी आज प्राप्त नहीं है। अतः यह कहना तो कठिन है कि यापनीय आगमों की भाषा कितनी अर्धमागधी थी और कितनी शौरसेनी। किन्तु इतना तय है कि यापनीयों ने अपने ग्रन्थों में आगमों, प्रकीर्णकों एवं निर्युक्तियों की जिन गाथाओं को गृहीत किया है अथवा उद्धृत किया है वे सभी आज शौरसेनी रूपों में ही पायी जाती हैं। यद्यपि आज भी उन पर बहुत कुछ अर्धमागधी का प्रभाव शेष रह गया है। चाहे यापनीयों ने सम्पूर्ण आगमों के भाषाई स्वरूप को अर्धमागधी से शौरसेनी में रूपांतरित किया हो या नहीं, किन्तु उन्होंने आगम साहित्य से जो गाथाएं उद्धृत की हैं, वे अधिकांशतः आज अपने शौरसेनी स्वरूप में पायी जाती हैं। यापनीय आगमों के भाषिक स्वरूप में यह परिवर्तन जानबूझ कर किया गया या जब मथुरा जैन धर्म का केन्द्र बना तब सहज रूप में यह परिवर्तन आ गया था, यह कहना कठिन है। जैन धर्म सदैव से क्षेत्रीय भाषाओं को अपनाता रहा और यही कारण हो सकता है कि श्रुत परम्परा से चली आयी इन गाथाओं में या तो सहज ही क्षेत्रीय प्रभाव आया हो या फिर उस क्षेत्र की भाषा को ध्यान में रखकर उसे उस रूप में परिवर्तित किया गया हो।

यह भी सत्य है कि बलभी में जो देवर्धिगणि की अध्यक्षता में वी. नि. सं. ९८० या ९९३ में अंतिम वाचना हुई, उसमें क्षेत्रगत महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव जैन आगमों पर विशेष रूप से आया होगा। यही कारण है कि वर्तमान में श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगामों की भाषा का जो स्वरूप उपलब्ध है, उस पर महाराष्ट्री का प्रभाव ही अधिक है। अर्धमागधी आगमों में भी उन आगमों की भाषा महाराष्ट्री से अधिक प्रभावित हुई है, जो अधिक व्यवहार या प्रचलन में रहे। उदाहरण के रूप मे उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगम महाराष्ट्री से अधिक प्रभावित हैं। जबकि ऋषिभाषित जैसा आगम महाराष्ट्री के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त रहा है। उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव अत्यल्प है। आज अर्धमागधी का जो आगम साहित्य हमें उपलब्ध है, उसमें अर्धमागधी का सर्वाधिक प्रतिशत इसी ग्रन्थ में पाया जाता है।

जैन आगमिक एवं आगम रूप में मान्य अर्धमागधी तथा शौरसेनी ग्रन्थों मे भाषिक स्वरूप में परिवर्तन क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों मे दिया जा सकता है। वस्तुतः इन ग्रन्थों में हुए भाषिक परिवर्तनों का कोई एक ही कारण नहीं है, अपितु अनेक कारण है, जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

१. भारत में जहां वैदिक परम्परा ने वेद वचनों को मंत्र मानकर उनके स्वर-व्यंजनों की उच्चारण-योजना को अपरिवर्तनीय बनाये रखने पर अधिक बल दिया, वहां उनके लिये शब्द और ध्वनि ही महत्त्वपूर्ण रहे और अर्थ गौण। आज भी अनेक वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हैं, जो वेद मंत्रों के उच्चारण, लय आदि के प्रति अत्यन्त सतर्क रहते हैं, किंतु वे उनके अर्थों को नहीं जानते हैं। यही कारण है कि वेद शब्द रूप में यथावत् बने रहे। इसके विपरीत जैन परम्परा में यह माना गया कि तीर्थंकर अर्थ के उपदेष्टा होते हैं उनके वचनों को शब्द रूप तो गणधर आदि के द्वारा दिया है। जैनाचार्यों के लिये कथन का तात्पर्य ही प्रमुख था। उन्होंने कभी भी शब्दों पर बल नहीं दिया। शब्दों में चाहे परिवर्तन हो जाए, लेकिन अर्थों में परिवर्तन नहीं होना चाहिये, यही जैन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य रहा। शब्द रूपों की उनकी इस उपेक्षा के फलस्वरूप ही आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन होते गए।

२. आगम साहित्य में जो भाषिक परिवर्तन हुए, उसका दूसरा कारण यह था कि जैन भिक्षु संघ में विभिन्न प्रदेशों के भिक्षुगण सम्मिलित थे। अपनी-अपनी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित होने के कारण उनकी उच्चारण शैली में भी स्वाभाविक भिन्नता रहती, फलतः आगम साहित्य के भाषिक स्वरूप में भिन्नताएं आ गयीं।

३. तीसरे जैन भिक्षु सामान्यतया भ्रमणशील होते हैं, उनकी भ्रमणशीलता के कारण उनकी बोलियों, भाषाओं पर भी अन्य प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव पड़ता है। फलतः आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन या मिश्रण हो जाता है। उदाहरण के रूप में जब पूर्व का भिक्षु पश्चिमी प्रदेशों में अधिक बिहार करता है तो उसकी भाषा में पूर्व एवं पश्चिम दोनों ही बोलियों का प्रभाव आ ही जाता है। अतः भाषिक स्वरूप की एकरूपता समाप्त हो जाती है।

४. सामान्यतया बुद्ध वचन बुद्ध-निर्वाण के २००-३०० वर्ष के अन्दर

ही अन्दर लिखित रूप में आ गए। अतः उनके भाषिक स्वरूप में उनके रचनाकाल के बाद बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया तथापि उनकी उच्चारण शैली विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रही और वह आज भी है। थाई, बर्मी और श्रीलंका के भिक्षुओं का त्रिपिटक का उच्चारण भिन्न-भिन्न होता है फिर भी उनके लिखित स्वरूप में बहुत कुछ एकरूपता है। इसके विपरीत जैन आगमिक एवं आगमतुल्य साहित्य एक सुदीर्घ काल तक लिखित रूप में नहीं आ सका, वह गुरु-शिष्य परम्परा से मौखिक ही चलता रहा फलतः देश कालगत उच्चारण भेद से उनके भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया।

भारत में कागज का प्रचलन न होने से ग्रन्थ भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर लिखे जाते। ताड़पत्रों पर ग्रंथों को लिखवाना और उन्हें सुरक्षित रखना जैन मुनियों की अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना के प्रतिकूल था। लगभग ई० सन की ५ वीं शती तक इस कार्य को पाप प्रवृत्ति माना जाता तथा इसके लिए दण्ड की व्यवस्था भी थी। फलतः महावीर के पश्चात् लगभग १००० वर्ष तक जैन साहित्य श्रुत परम्परा पर ही आधारित रहा। श्रुत-परम्परा के आधार पर आगमों के भाषिक स्वरूप को सुरक्षित रखना कठिन था। अतः उच्चारण शैली का भेद आगमों के भाषिक स्वरूप के परिवर्तन का कारण बन गया।

५. आगमिक एवं आगम-तुल्य साहित्य में आज भाषिक रूपों का जो परिवर्तन देखा जाता है, उसका एक कारण लेहियों (प्रतिलिपिकारों) की असावधानी भी रही है। प्रतिलिपिकार जिस क्षेत्र के होते थे, उन पर क्षेत्र की बोली/भाषा का प्रभाव रहता था और असावधानी से अपनी प्रादेशिक बोली के शब्द रूपों को लिख देते थे। उदाहरण के रूप में चाहे मूल-पाठ में 'गच्छति' लिखा हो लेकिन प्रचलन में 'गच्छइ' का व्यवहार है, तो प्रतिलिपिकार 'गच्छइ' रूप ही लिख देगा।

६. जैन आगम एवं आगम तुल्य ग्रन्थ में आये भाषिक परिवर्तनों का एक कारण यह भी है कि वे विभिन्न कालों एवं प्रदेशों में संपादित होते रहे हैं। सम्पादकों ने उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु उन्हे सम्पादित करते समय अपने युग एवं क्षेत्र के प्रचलित भाषायी स्वरूप के आधार पर उनमें परिवर्तन कर दिया। यही कारण है कि अर्धमागधी में लिखित आगम भी जब मथुरा में संकलित एवं सम्पादित हुए तो उनका

भाषिक स्वरूप अर्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी के निकट हो गया, और जब बलभी में लिखे गये तो वह महाराष्ट्री से प्रभावित हो गया। यह अलग बात है कि ऐसा परिवर्तन सम्पूर्ण रूप में न हो सका और उनमें अर्धमागधी के तत्त्व भी बने रहे।

सम्पादन और प्रतिलिपि करते समय भाषिक स्वरूप की एकरूपता पर विशेष बल नहीं दिए जाने के कारण जैन आगम एवं आगमतुल्य साहित्य अर्धमागधी, शौरसेनी एवं महाराष्ट्री की खिचड़ी ही बन गया और विद्वानों ने उनकी भाषा को जैन शौरसेनी और जैन महाराष्ट्री ऐसे नाम दिये। न प्राचीन संकलन कर्ताओं ने उस पर ध्यान दिया और न आधुनिक काल के सम्पादकों, प्रकाशकों ने इस तथ्य पर ध्यान दिया। परिणामतः एक ही आगम के एक ही विभाग में 'लोक', 'लोग', 'लोअ' और 'लोय'—ऐसे चारों ही रूप देखने को मिल जाते हैं।

यद्यपि सामान्य रूप से तो इन भाषिक रूपों के परिवर्तनों के कारण कोई बहुत बड़ा अर्थ-भेद नहीं होता है किंतु कभी-कभी इनके कारण भयंकर अर्थभेद भी हो जाता है। इस सन्दर्भ में एक दो उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट करना चाहूंगा। उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग के प्राचीन पाठ 'रामपुत्ते' बदलकर चूर्णि में 'रामउत्ते' हो गया, किन्तु वही पाठ सूत्रकृतांग की शीलांक की टीका में 'रामगुत्ते' हो गया। इस प्रकार जो शब्द रामपुत्र का वाचक था, वह रामगुप्त का वाचक हो गया। इसी आधार पर कुछ विद्वानों ने उसे गुप्तशासक रामगुप्त मान लिया है—उसके द्वारा प्रतिष्ठापित विदिशा की जिन मूर्तियों के अभिलेखों से उसकी पुष्टि भी कर दी। जबकि वस्तुतः वह निर्देश बुद्ध के समकालीन रामपुत्र नामक श्रमण आचार्य के सम्बन्ध में था, जो ध्यान एवं योग के महान् साधक थे और जिनसे स्वयं भगवान् बुद्ध ने ध्यान प्रक्रिया सीखी थी। उनसे संबंधित एक अध्ययन ऋषिभाषित में आज भी है, जबकि अंतकृत् देशा में उनसे सम्बन्धित जो अध्ययन था, वह आज विलुप्त हो चुका है। इसकी विस्तृत चर्चा (Aspects of Jainology Vol. II में) मैंने अपने एक स्वतंत्र लेख में की है। इसी प्रकार आचारांग एवं सूत्रकृतांग में प्रयुक्त 'खेत्तन्न' शब्द, जो 'क्षेत्रज्ञ' (आत्मज्ञ) का वाची था, महाराष्ट्री के प्रभाव से आगे चलकर 'खेयण्ण' बन गया और उसे 'खेदज्ञ' का वाची मान लिया गया। इसकी चर्चा प्रो०के० आर० चन्द्रा ने श्रमण १९९२ में प्रकाशित अपने लेख में की है। अतः स्पष्ट है कि इन परिवर्तनों के कारण अनेक स्थलों पर बहुत अधिक अर्थभेद भी हो गये है। आज वैज्ञानिक रूप से सम्पादन की जो शैली विकसित हुई है उसके माध्यम से इन समस्याओं के समाधान की अपेक्षा है। जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया था कि आगमिक एवं आगम तुल्य ग्रंथों के प्राचीन स्वरूप को स्थिर करने लिए श्वेताम्बर-

परम्परा में प्रो० के० आर०चन्द्रा और दिगम्बर-परम्परा में आचार्य श्री विद्यानन्द के सानिध्य में श्री बलभद्र जैन ने प्रयत्न प्रारंभ किया है। किन्तु इन प्रयत्नों का कितना औचित्य है और इस सन्दर्भ में किन-किन सावधानियों की आवश्यकता है, यह भी विचारणीय है यदि प्राचीन रूपों को स्थिर करने का यह प्रयत्न सम्पूर्ण सावधानी और ईमानदारी से न हुआ, तो इसके दुष्परिणाम भी हो सकते हैं।

प्रथमतः प्राकृत के विभिन्न भाषिक रूप लिये हुए इन ग्रन्थों में पारस्परिक प्रभाव और पारस्परिक अवदान को अर्थात् किसने किस परम्परा से क्या लिया है, इसे समझने के लिए आज जो सुविधा है, वह इनमें भाषिक एकरूपता लाने पर समाप्त हो जायेगी। आज नमस्कार मंत्र में 'नमो' और 'णमो' शब्द का जो विवाद है, उसका समाधान और कौन शब्द रूप प्राचीन है इसका निश्चय, हम खारवेल और मथुरा के अभिलेखों के आधार पर कर सकते हैं और यह कह सकते है कि अर्धमागधी का 'नमो' रूप प्राचीन है, जबकि शौरसेनी और महाराष्ट्री का 'णमो' रूप परवर्ती है। क्योंकि ई० की दूसरी शती तक अभिलेखों में कहीं भी 'णमो' रूप नहीं मिलता। जबकि छठी शती से दक्षिण भारत के जैन अभिलेखों में 'णमो' रूप बहुतायत से मिलता है। इससे फलित यह निकलता है कि (णमो) रूप परवर्ती है और जिन ग्रन्थों में 'न' के स्थान पर 'ण' की बहुलता है, वे ग्रन्थ भी परवर्ती हैं। यह सत्य है कि 'नमो' से परिवर्तित होकर ही 'णमो' रूप बना है। जिन अभिलेखों में 'णमो' रूप मिलता है वे सभी ई० सन्० की चौथी शती के बाद के ही हैं। इसी प्रकार से नमस्कार मंत्र की अंतिम गाथा में 'एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं'— ऐसा पाठ है। इनमें प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति में 'एकार' के स्थान पर 'ओकार' का प्रयोग तथा हवति के स्थान हवइ शब्द रूप का प्रयोग यह बताता है कि इसकी रचना अर्धमागधी से महाराष्ट्री के संक्रमण-काल के बीच की है और यह अंश नमस्कार मंत्र में बाद में जोड़ा गया है। इसमें शौरसेनी रूप 'होदि' या 'हवदि' के स्थान पर महाराष्ट्री शब्द रूप 'हवई' है जो यह बताता है—यह अंश मूलतः महाराष्ट्री में निर्मित हुआ था और वहीं से ही शौरसेनी में लिया गया है।

इसी प्रकार शौरसेनी आगमों में भी इसके 'हवइ' शब्द रूप की उपस्थिति भी यही सूचित करती है कि उन्होंने इस अंश को परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत के ग्रन्थों से ही ग्रहण किया है। अन्यथा वहां मूल शौरसेनी 'हवदि' या 'होदि' रूप ही होना था। आज यदि किसी को शौरसेनी का अधिक आग्रह हो, तो क्या वे नमस्कार मंत्र के इस 'हवइ' शब्द को 'हवदि' या 'होदि' रूप में परिवर्तित कर देंगे? जबकि तीसरी चौथी शती से आज तक कहीं भी 'हवइ' के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द-रूप उपलब्ध ही नहीं है।

प्राकृत के भाषिक स्वरूप के संबंध में दूसरी कठिनाई यह है कि प्राकृत का मूल आधार क्षेत्रीय बोलियाँ होने से उसके एक ही काल में विभिन्न रूप रहे हैं। प्राकृत व्याकरण में जो 'बहुल' शब्द है वह स्वयं इस बात का सूचक है कि चाहे शब्द रूप हो, चाहे धातु रूप हो, या उपसर्ग आदि हो, उनकी बहुविधता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक बार हम मान भी लें कि एक क्षेत्रीय बोली में एक ही रूप रहा होगा, किन्तु चाहे वह शौरसेनी, अर्द्धमागधी या महाराष्ट्री प्राकृत हो, साहित्यिक भाषा के रूप में इनके विकास के मूल में विविध बोलियाँ रही है। अतः भाषिक एकरूपता का प्रयत्न प्राकृत की अपनी मूल प्रकृति की दृष्टि से कितना समीचीन होगा, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है।

पुनः चाहे हम एक बार यह मान भी लें कि प्राचीन अर्धमागधी का जो भी साहित्यिक रूप रहा वह बहुविध नहीं था और उसमें व्यंजनों के लोप, उनके स्थान पर 'अ' या 'य' की उपस्थिति अथवा 'न' के स्थान पर 'ण' की प्रवृत्ति नहीं रही होगी और इस आधार पर आचारांग आदि की भाषा का अर्धमागधी स्वरूप स्थिर करने का प्रयत्न उचित भी मान लिया जाये, किन्तु यह भी सत्य है कि जैन-परम्परा में शौरसेनी का आगम तुल्य साहित्य मूलतः अर्धमागधी आगम साहित्य के आधार पर और उससे ही विकसित हुआ, अतः उसमें जो अर्धमागधी या महाराष्ट्री का प्रभाव देखा जाता है, उसे पूर्णतः निकाल देना क्या उचित होगा? यदि हमने यह दुःसाहस किया भी तो उससे ग्रन्थों के काल-निर्धारण आदि में और उनकी पारस्परिक प्रभावकता को समझने में, आज जो सुगमता है, वह नष्ट हो जायेगी।

यही स्थिति महाराष्ट्री प्राकृत की भी है। उसका आधार भी अर्धमागधी और अंशत शौरसेनी आगम रहे हैं, यदि उनके प्रभाव को निकालने का प्रयत्न किया गया तो वह भी उचित नहीं होगा। खेयण्ण का प्राचीन रूप खेत्तन्न है। महाराष्ट्री प्राकृत के ग्रन्थ में एक बार 'खेत्तन्न' रूप प्राप्त होता है तो उसे हम प्राचीन शब्द रूप मानकर रख सकते हैं, किन्तु अर्धमागधी के ग्रन्थ में 'खेत्तन्न' रूप उपलब्ध होते हुए भी महाराष्ट्री रूप 'खेयन्न' बनाये रखना उचित नहीं होगा। जहां तक अर्धमागधी आगम ग्रन्थों का प्रश्न है उन पर परवर्ती काल में जो शौरसेनी या महाराष्ट्री प्राकृतों का प्रभाव आ गया है, उसे दूर करने का प्रयत्न किसी सीमा तक उचित माना जा सकता है, किन्तु इस प्रयत्न में भी निम्न सावधानियां अपेक्षित हैं।

(१) प्रथम तो यह कि यदि मूल हस्तप्रतियों में कहीं भी वह शब्द रूप नहीं मिलता है, तो उस शब्द रूप को किसी भी स्थिति में परिवर्तित न किया जाये। किन्तु प्राचीन अर्धमागधी शब्द रूप जो किसी भी मूल हस्त प्रति में एक-दो स्थानों पर भी उपलब्ध होता है, उसे अन्यत्र परिवर्तित किया जा

सकता है। यदि किसी अर्धमागधी के प्राचीन ग्रन्थ में 'लोग' एवं 'लोय' दोनों रूप मिलते हों तो वहां अर्वाचीन रूप 'लोय' को प्राचीन रूप 'लोग' में रूपांतरित किया जा सकता है किन्तु इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना होगा कि यदि एक पूरा का पूरा गद्यांश या पद्यांश महाराष्ट्री में है और उसमें प्रयुक्त शब्दों के वैकल्पिक अर्धमागधी रूप किसी एक भी आदर्श प्रति में नहीं मिलते हैं तो उन अंशों को परिवर्तित न किया जाये, क्योंकि संभावना यह हो सकती है कि वह अंश परवर्ती काल में प्रक्षिप्त हुआ हो, अतः उस अंश के प्रक्षिप्त होने का आधार जो उसका भाषिक स्वरूप है, उसको बदलने से आगमिक शोध में बाधा उत्पन्न होगी। उदाहरण के रूप में आचारांग के प्रारम्भ में 'सुयं मे आउसंतेण भगवया एवं अक्खायं' के अंश को ही लें, जो सामान्यतया सभी प्रतियों में इसी रूप में मिलता है*। यदि हम इसे अर्धमागधी में रूपान्तरित करके 'सुतं मे आउसन्तेणं भगवता एवं अक्खाता' कर देंगे तो इसके प्रक्षिप्त होने की जो संभावना है वह समाप्त हो जायेगी। अतः प्राचीन स्तर के आगमों में किस अंश के भाषिक स्वरूप को बदला जा सकता है और किसको नहीं, इस पर गंभीर चिंतन की आवश्यकता है।

इसी संदर्भ में ऋषिभाषित के एक उदाहरण पर विचार कर सकते हैं। इसमें प्रत्येक ऋषि के कथन को प्रस्तुत करते हुए सामान्यतया यह गद्यांश मिलता है — अरहता इसिणा बुइन्तं किन्तु हम देखते हैं कि इसके ४५ अध्यायों में से ३७ में 'बुइन्तं' पाठ है, जबकि ७ में 'बुइय' पाठ है। ऐसी स्थिति में यदि इस 'बुइयं' पाठ वाले अंश के आस-पास अन्य शब्दों के प्राचीन अर्धमागधी रूप मिलते हों तो 'बुइयं' को बुइन्त में बदला जा सकता है। किन्तु यदि किसी शब्द रूप के आगे-पीछे के शब्द रूप भी महाराष्ट्री प्रभाव वाले हों, तो फिर उसे बदलने के लिए हमें एक बार सोचना होगा।

कुछ स्थितियों में यह भी होता है कि ग्रंथ की एक ही आदर्श प्रति उपलब्ध हो ऐसी स्थिति में जब तक उनकी प्रतियां उपलब्ध न हों, तब तक उनके साथ छेड़-छाड़ करना उचित नहीं होगा। अतः अर्धमागधी या शौरसेनी के भाषिक रूपों को परिवर्तित करने के किसी निर्णय से पूर्व सावधानी और बौद्धिक ईमानदारी की आवश्यकता है। इस संदर्भ में अंतिम रूप से एक बात और निवेदन करना आवश्यक है, वह है कि यदि मूलपाठ में किसी प्रकार का परिवर्तन किया भी जाता है, तो भी इतना तो अवश्य ही करणीय होगा कि पाठान्तरों के रूप में अन्य उपलब्ध शब्द-रूपों को भी अनिवार्य रूप से रखा जाय, साथ ही भाषिक रूपों को परिवर्तित करने के लिए जो प्रति आधार रूप में मान्य की गयी हो उसकी मूल प्रति/छाया को भी प्रकाशित किया जाय, क्योंकि छेड़-छाड के इस क्रम में जो साम्प्रदायिक आग्रह कार्य करेंगे, उससे ग्रंथ की मौलिकता को पर्याप्त धक्का लग सकता है।

* ऐसा नहीं है, मूल में 'त' — सुतं, भगवता अक्खातं आदि हस्तप्रतों और मुद्रित आगमों में मिलता है — KKC.

आचार्य शान्तिसागरजी और उनके समर्थक कुछ दिगंबर विद्वानों द्वारा षट्खंडागम (१।१।९३) में से 'संजद' पाठ को हटाने की एवं श्वेताम्बर परम्परा में मुनि श्री फूलचंदजी द्वारा परम्परा के विपरीत लगने वाले कुछ आगम के अंशों को हटाने की कहानी अभी हमारे सामने ताजी ही है। यह तो भाग्य ही था कि इस प्रकार के प्रयत्नों को दोनों ही समाज के प्रबुद्ध वर्ग ने स्वीकार नहीं किया और इस प्रकार से सैद्धांतिक संगति के नाम पर जो कुछ अनर्थ हो सकता था, उससे हम बच गये। किन्तु आज भी 'षट्खण्डागम' के ताम्र पत्रों एवं प्रथम संस्करण की मुद्रित प्रतियों में 'संजद' शब्द अनुपस्थित है। इसी प्रकार फूलचंदजी द्वारा संपादित अंगसुत्ताणि में कुछ आगम पाठों का विलोपन हुआ है वे प्रतियां तो भविष्य में भी रहेंगी, अतः भविष्य में तो यह सब निश्चय ही विवाद का कारण बनेगा। इसलिये ऐसे किसी भी प्रयत्न से पूर्व पूरी सावधानी एवं सजगता आवश्यक है। मात्र 'संजद' पद हट जाने से उस ग्रन्थ के यापनीय होने की जो पहचान है, वही समाप्त हो जाती और जैन परम्परा के इतिहास के साथ अनर्थ हो जाता।

उपर्युक्त समस्त चर्चा से मेरा प्रयोजन यह नहीं है कि अर्धमागधी आगम एवं आगम तुल्य शौरसेनी ग्रन्थों के भाषायी स्वरूप की एकरूपता एवं प्राचीन स्वरूप को स्थिर करने का कोई प्रयत्न ही न हो। मेरा दृष्टिकोण मात्र यह है कि उसमें विशेष सतर्कता की आवयश्कता है। साथ ही इस प्रयत्न का परिणाम यह न हो कि जो परवर्ती ग्रन्थ प्राचीन अर्धमागधी आगमों के आधार पर निर्मित हुए हैं, उनकी उस रूप में पहचान ही समाप्त कर दी जाये और इस प्रकार आज ग्रंथों के पौर्वापर्य के निर्धारण का जो भाषायी आधार है वह भी नष्ट हो जाये। यदि प्रश्नव्याकरण, नन्दीसूत्र आदि परवर्ती आगमों की भाषा को प्राचीन अर्धमागधी में बदला गया अथवा कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का या मूलाचार और भगवती आराधना का पूर्ण शौरसेनीकरण किया गया तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि इससे उनकी पहचान और इतिहास ही नष्ट हो जायेगा।

जो लोग इस परिवर्तन के पूर्णतः विरोधी हैं उनसे भी मैं सहमत नहीं हूं। मैं यह मानता हूं, आचारांग, ऋषिभाषित एवं सूत्रकृतांग, जैसे प्राचीन आगमों का इस दृष्टि से पुनः सम्पादन होना चाहिए। इस प्रक्रिया के विरोध में जो स्वर उभर कर सामने आये हैं उनमें जौहरीमलजी पारख का स्वर प्रमुख है। वे विद्वान् अध्येता और श्रद्धाशील दोनों ही हैं फिर भी "तुलसी-प्रज्ञा" में उनका जो लेख प्रकाशित हुआ है उसमें उनका वैदुष्य श्रद्धा के अतिरेक में दब सा गया है। उनका सर्वप्रथम तर्क यह है कि आगम सर्वज्ञ के वचन हैं, अतः उन पर व्याकरणों के नियम थोपे नहीं जा सकते कि वे व्याकरण के नियमों के अनुसार ही बोलें। यह कोई तर्क नहीं मात्र उनकी

श्रद्धा का आतंक तो है। प्रथम प्रश्न तो यही है कि क्या अर्धमागधी आगम अपने वर्तमान स्वरूप में सर्वज्ञ की वाणी हैं ? क्या उसमें किसी प्रकार का विलोपन, प्रक्षेप या परिवर्तन नहीं हुआ है ? यदि ऐसा है तो उनमें अनेक स्थलों पर अन्तर्विरोध क्यों हैं ? कहीं लोकान्तिक देवों की संख्या आठ है कहीं नौ क्यों है ? कहीं चार स्थावर और दो त्रस है, कहीं तीन त्रस और तीन स्थावर कहे गये, तो कहीं पांच स्थावर और एक त्रस। यदि आगम शब्दशः महावीर की वाणी हैं, तो आगमों और विशेष रूप से अंग आगमों में महावीर के तीन सौ वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए गणों के उल्लेख क्यों हैं ? यदि कहा जाय कि भगवान् सर्वज्ञ थे और उन्होंने भविष्य की घटनाओं को जानकर यह उल्लेख किया तो प्रश्न यह कि वह कथन व्याकरण की दृष्टि से भविष्य-कालिक भाषा रूप में होना था वह भूतकाल में क्यों कहा गया। भगवती में गोशालक के प्रति जिस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग हुआ है क्या वह अंश वीतराग भगवान् महावीर की वाणी हो सकती है ? क्या आज प्रश्न व्याकरण, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा और विपाकदशा की विषय-वस्तु वही है, जो स्थानांग में उल्लिखित है ? तथ्य यह है कि यह सब परिवर्तन हुआ है, आज हम उससे इंकार नहीं कर सकते हैं। आज ऐसे अनेक तथ्य हैं, जो वर्तमान आगम साहित्य को अक्षरशः सर्वज्ञ के वचन मानने में बाधक हैं। परम्परा के अनुसार भी सर्वज्ञ तो अर्थ (विषय वस्तु) के प्रवक्ता है शब्द रूप तो उनको गणधरों या परवर्ती स्थविरों द्वारा दिया है। पुनः क्या आज हमारे पास जो आगम है, वे ठीक वैसे ही हैं जैसे शब्द रूप से गणधर गौतम ने उन्हें रचा था ? आगम ग्रन्थों में परवर्ती काल में जो विलोपन, परिवर्तन, परिवर्धन और जिनका साक्ष्य स्वयं आगम ही दे रहे हैं, उससे क्या हम इंकार कर सकते हैं ? स्वयं देवर्धि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है तो फिर हम नकारने वाले कौन होते है ? आदरणीय पारखजी लिखते हैं— पण्डितों से हमारा यही आग्रह रहेगा कि कृपया बिना भेल सेल के वही पाठ प्रदान करें जो तीर्थंकरों ने अर्थरूप में प्ररूपित और गणधरों ने सूत्ररूप में संकलित किया था। हमारे लिये वही शुद्ध है। सर्वज्ञों को जिस अक्षर शब्द, पद, वाक्य या भाषा का प्रयोग अभीष्ट था, वह सूचित कर गये, अब उसमें असर्वज्ञ फेर बदल नहीं कर सकता। उनके इस कथन के प्रति मेरा प्रथम प्रश्न तो यही है कि आज तक आगमों में जो परिवर्तन होता रहा वह किसने किया ? आज हमारे पास जो आगम हैं उनमें एकरूपता क्यों नहीं है ? आज मुर्शिदाबाद, हैदराबाद, बम्बई, लाडनूं आदि के संस्करणों में इतने अधिक पाठ भेद क्यों है ? इनमें से हम किस संस्करण को सर्वज्ञ वचन मानें और आपके शब्दों में किसे भेलसेल कहें ? मेरा दूसरा प्रश्न यह है कि क्या आज पण्डित आगमों में कोई भेल-सेल कर रहे हैं या फिर वे उसके शुद्ध स्वरूप को सामने लाना

चाहते हैं ? किसी भी पाश्चात्य संशोधक दृष्टि सम्पन्न विद्वान् ने आगमों में कोई भेलसेल किया ? इसका एक भी उदाहरण हो तो हमें बतायें। दुर्भाग्य यह है कि शुद्धि के प्रयत्न को भेलसेल का नाम दिया जा रहा है और व्यर्थ में उसकी आलोचना की जा रही है। पुनः जहां तक मेरी जानकारी है डा० चन्द्रा ने एक भी ऐसा पाठ नहीं सुझाया है जो आदर्शसम्मत नहीं है। उन्होंने मात्र यही प्रयत्न किया है कि जो भी प्राचीन शब्द रूप किसी भी एक आदर्श प्रति में एक-दो स्थानों पर भी मिल गये उसे आधार मानकर अन्य स्थलों पर भी वही प्राचीन रूप रखने का प्रयास किया है। यदि उन्हें भेल-सेल करना होता तो वे इतने साहस के साथ पूज्य मुनिजनों एवं विद्वानों के विचार जानने के लिये उसे प्रसारित नहीं करते। फिर जब पारखजी स्वयं यह कहते हैं कि कुल ११६ पाठ भेदों में केवल 'आउसंतेण' को छोड़कर शेष ११५ पाठभेद ऐसे हैं कि जिनसे अर्थ में कोई फर्क नहीं पड़ता तो फिर उन्होंने ऐसा कौन सा अपराध कर दिया जिससे उनके श्रम की मूल्यवत्ता को स्वीकार करने के स्थल पर उसे नकारा जा रहा है। आज यदि आचारांग के लगभग ४० से अधिक संस्करण हैं—और यह भी सत्य है कि सभी ने आदर्शों के आधार पर ही पाठ छापे हैं तो फिर किसे शुद्ध और किसे अशुद्ध कहें, क्या सभी को समान रूप से शुद्ध मान लिया जायेगा ? क्या हम ब्यावर, जैन विश्वभारती, लाडनूं और और महावीर विद्यालय वाले संस्करणों को समान महत्व का समझें। भय भेल-सेल का नहीं है भय यह है कि अधिक प्रामाणिक एवं शुद्ध संस्करण के निकल जाने से पूर्व संस्करणों के सम्पादन में रही कमियां उजागर हो जाने का और यही खीज का मूल कारण है। पुनः क्या श्रद्धेय पारखजी यह बता सकते हैं कि कोई भी ऐसी आदर्श प्रति है जो पूर्णतः शुद्ध है— जब आदर्शों में भिन्नता और अशुद्धियां हैं तो उन्हें शुद्ध करने के लिये व्याकरण के अतिरिक्त विद्वान् किसका सहारा लेंगे ? क्या आज तक कोई भी आगम ग्रन्थ बिना व्याकरण का सहारा लिये मात्र आदर्श के आधार पर छपा है। प्रत्येक सम्पादक व्याकरण का सहारा लेकर ही आदर्श की अशुद्धि को ठीक करता है। यदि वे स्वयं यह मानते हैं कि आदर्शों में अशुद्धियां स्वाभाविक हैं तो फिर उन्हें शुद्ध किस आधार पर किया जाएगा ? मैं भी यह मानता हूं कि सम्पादन में आदर्श प्रति का आधार आवश्यक है किन्तु न तो मात्र आदर्श से और न मात्र व्याकरण के नियमों से समाधान होता है। उसमें दोनों का सहयोग आवश्यक है। मात्र यही नहीं, अनेक प्रतों को सामने रखकर तुलना करके एवं विवेक से भी पाठ शुद्ध करना होता है। जैसाकि आचार्य श्री तुलसी जी ने मुनि श्री जम्बूविजयजी को अपनी सम्पादन शैली का स्पष्टीकरण करते हुए बताया था।

आदरणीय पारखजी एवं उनके द्वारा उद्धृत मुनि श्री जम्बूविजयजी

का यह कथन कि 'आगमों में अनुनासिक परसवर्ण वाले पाठ प्रायः नहीं मिलते हैं, स्वयं ही यह बताता है कि क्वचित् तो मिलते हैं। पुनः इस सम्बन्ध में डॉ० चन्द्रा ने आगमोदय समिति के संस्करण और टीका तथा चूर्णि के संस्करणों से प्रमाण भी दिये हैं। वस्तुतः लेखन की सुविधा के कारण ही अनुनासिक परसवर्ण वाले पाठ आदर्शों में कम होते गये हैं। किन्तु लोक भाषा में वे आज भी जीवित हैं। अतः चन्द्राजी के कार्य को प्रमाण रहित या आदर्श-रहित कहना उचित नहीं है।

वर्तमान में उपलब्ध आगमों के संस्करणों में लाडनूं और महावीर विद्यालय के संस्करण अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं, किन्तु उनमें भी 'त' और 'य' श्रुति को लेकर या मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप सम्बन्धी जो वैविध्य हैं, वह न केवल आश्चर्यजनक हैं अपितु विद्वानों के लिए चिन्तनीय भी हैं। यहां महावीर विद्यालय से प्रकाशित स्थानांगसूत्र के ही एक दो उदाहरण आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूं।

चत्तारि वत्था पन्नत्ता, तंजहा-सुती नामं एगे सुती, सुई नामं एगे असुई, चउभंगो।

एवामेव चत्तारि पुरिसजाता पन्नत्ता, तंजहा सुती णामं एगे सुती, चउभंगो।

(चतुर्थ स्थान, प्रथम उद्देश्य, सूत्रक्रमांक २४१, पृ० संख्या ९४)।

इस प्रकार यहां आप देखेंगे कि एक ही सूत्र में 'सुती' और 'सुई' दोनों रूप उपस्थित हैं। इससे मात्र शब्द-रूप में ही भेद नहीं होता है, अर्थ भेद भी हो सकता है क्योंकि सुती का अर्थ है सूत से निर्मित जबकि सुइ (शुचि) का अर्थ है पवित्र। इसी प्रकार इस सूत्र में 'णाम' और 'नाम' दोनों शब्द रूप एक ही साथ उपस्थित हैं। इसी स्थानांग सूत्र से एक अन्य उदाहरण लीजिए—सूत्र क्रमांक ४४५, पृष्ठ १९७ पर 'निर्ग्रन्थ' शब्द के लिए प्राकृत शब्द रूप 'नियंठ' प्रयुक्त है, तो सूत्र ४४६ में 'निग्गंथ' और पाठांतर में 'नियंठ' रूप भी दिया गया है। इसी ग्रन्थ में सूत्र संख्या ४५८, पृ० १९७ पर धम्मत्थिकातं, अधम्मत्थिकातं और आगासत्थिकायं—इस प्रकार 'काय' शब्द के दो भिन्न शब्द रूप कातं और कायं दिये गये हैं। यद्यपि 'त' श्रुति प्राचीन अर्धमागधी की पहचान है, किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में सुती, नितंठ और कातं में जो 'त' का प्रयोग है वह मुझे परवर्ती लगता है। लगता है कि 'य' श्रुति को 'त' श्रुति में बदलने के प्रयत्न भी कालान्तर में हुए और इस प्रयत्न में बिना अर्थ का विचार किये 'य' को 'त' कर दिया गया है। शुचि के सुती, निर्ग्रन्थ का नितंठ और काय का कांत किस प्राकृत व्याकरण के नियम से बनेगा—मेरी जानकारी में तो नहीं है। इससे भी आश्चर्यजनक एक उदाहरण हमें हर्षपुष्यामृत जैन ग्रंथ-माला द्वारा प्रकाशित निर्युक्ति के प्रारम्भिक मंगल में मिलता है—

नमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं: एसो पंचनमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, । मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।

यहां हम देखते हैं कि जहां नमो अरिहंताणं में प्रारम्भ में 'न' रखा गया जबकि णमो सिद्धाणं से लेकर शेष चार पदों में आदि का 'न' 'ण' कर दिया गया है। किन्तु ऐसो पंचनमुक्कारो में पुनः 'न' उपस्थित है। हम आदरणीय पारख जी से इस बात में सहमत हो सकते हैं कि भिन्न कालों में भिन्नव्यक्तियों से चर्चा करते हुए प्राकृत भाषा के भिन्न शब्द रूपों का प्रयोग हो सकता है। किन्तु ग्रंथ-निर्माण के समय और वह भी एक ही सूत्र या वाक्यांश में दो भिन्न रूपों का प्रयोग तो कभी भी नहीं होगा। पुनःयदि हम यह मानते हैं कि आगम सर्वज्ञ वचन है, तो जब सामान्य व्यक्ति भी ऐसा प्रयोग नहीं करता है, फिर सर्वज्ञ कैसे करेगा? फिर इस प्रकार की भिन्न रूपता के लिए लेखक नहीं, अपितु प्रतिलिपिकार ही उत्तरदायी होता है। अतः ऐसे पाठों का शुद्धीकरण अनुचित नहीं कहा जा सकता। एक ही सूत्र में 'सुती' और 'सुई', 'नामं' और 'णामं' नियंठ और निग्गंथ, कातं और कायं—ऐसे दो शब्द रूप नहीं हो सकते। उनका पाठ-संशोधन आवश्यक है। यद्यपि इसमें भी यह सावधानी आवश्यक है कि त श्रुति की प्राचीनता के व्यामोह में कहीं सर्वत्र 'य' का 'त' नहीं कर दिया जावे जैसे शुचि-सुई का 'सुती,' निग्गंथ का नितंठ अथवा 'काय' का कातं पाठ महावीर विद्यालय वाले संस्करण में है। हम पारख जी से इस बात में सहमत है कि कोई भी पाठ आदर्श में उपलब्ध हुए बिना नहीं बदला जाय, किन्तु 'आदर्श' में उपलब्ध होने का यह अर्थ नहीं है कि 'सर्वत्र' और सभी आदर्श' उपलब्ध हों, यदि आदर्श या आदर्श के अंश में प्राचीन पाठ मात्र एक दो स्थलों पर ही मिले और उनका प्रतिशत २० से भी कम हो तो वहां उन्हें प्रायः न बदला जाय। किन्तु, यदि उनका प्रतिशत २० से अधिक हो तो उन्हें बदला जा सकता है—शर्त यही हो कि आगम का वह अंश परवर्ती या प्रक्षिप्त न हो—जैसे आचारांग का दूसरा श्रुतस्कन्ध या प्रश्नव्याकरण। किन्तु एक ही सूत्र में यदि इस प्रकार के भिन्न रूप आते हैं तो एक स्थल पर भी प्राचीन रूप मिलने पर अन्यत्र उन्हें परिवर्तित किया जा सकता है।

पाठ शुद्धिकरण में दूसरी सावधानी यह आवश्यक है कि आगमों में कहीं-कहीं प्रक्षिप्त अंश है अथवा संग्रहणीयों और निर्युक्तियों की अनेकों गाथाएं भी अवतरित की गयी हैं, ऐसे स्थलों पर पाठ—शुद्धिकरण करते समय प्राचीन रूपों की उपेक्षा करनी होगी और आदर्श में उपलब्ध पाठ को परवर्ती होते हुए भी यथावत् रखना होगा।

इस तथ्य को हम इस प्रकार भी समझा सकते हैं कि यदि एक

अध्ययन, उद्देशक या एक पेराग्राफ में यदि ७० या ८० प्रतिशत प्रयोग महाराष्ट्री या 'य' श्रुति के हैं और मात्र १० प्रतिशत प्रयोग प्राचीन अर्धमागधी के हैं तो वहां पाठ के महाराष्ट्री रूप को रखना ही उचित है। सम्भव है कि वह प्रक्षिप्त रूप हो, किन्तु इसके विपरीत उनमें ६० प्रतिशत प्राचीन रूप है और ४० प्रतिशत अर्वाचीन महाराष्ट्री के रूप हैं, तो वहां प्राचीन रूप रखे जा सकते हैं।

पुनः आगम संपादन और पाठ शुद्धीकरण के इस उपक्रम में दिये जाने वाले मूल पाठ को शुद्ध एवं प्राचीन रूप दिया जाय, किन्तु पाठ टिप्पणियों में सम्पूर्ण पाठान्तरों का संग्रह किया जाय। इसका लाभ यह होगा कि कालान्तर में यदि संशोधन कार्य करें तो उसमें सुविधा हो।

अन्त में मैं यह कहना चाहूंगा कि प्रो० के० आर० चन्द्रा अपनी शारीरिक आदि अनेक सीमाओं के बावजूद भी जो यह अत्यन्त महत्वपूर्ण और श्रमसाध्य कार्य कर रहे हैं, उसकी मात्र आलोचना करना कदापि उचित नहीं है, क्योंकि वे जो कार्य कर रहे हैं वह न केवल करणीय है बल्कि एक सही दिशा देने वाला कार्य है। हम उन्हें सुझाव तो दे सकते हैं लेकिन अनधिकृत रूप से येन-केन प्रकारेण सर्वज्ञ और शास्त्र-श्रद्धा की दुहाई देकर उनकी आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं रखते। क्योंकि वे जो भी कार्य कर रहे हैं वह बौद्धिक ईमानदारी के साथ, निर्लिप्त भाव से तथा सम्प्रदायगत आग्रहों से ऊपर उठकर कर रहे हैं, उनकी नियत में भी कोई शंका नहीं की जा सकती। अतः मैं जैन विद्या के विद्वानों से नम्र निवेदन करूंगा कि वे शान्तचित्त से उनके प्रयत्नों की मूल्यवत्ता को समझें और अपने सुझावों एवं सहयोग से उन्हें इस दिशा में प्रोत्साहित करें। ☐

लेखक:- डॉ. सागरमल जैन
निदेशक: पा. वि. शोध संस्थान
वाराणसी.

तुलसी प्रज्ञा
Vol. XIX. No. 3. Oct-Dec. 1993
शीर्षक: जैन आगमों में हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन: एक विमर्श.
पृ. 233 से 240